स्तारा जगोरा (बुल्गारिया)
फरवरी २१, २००८

सन्देश संख्या १३६

जिज्ञासा की दुविधा (मन) को समझदारी की निर्द्वंद्वता (जीवन) के दो पत्र

(ख)

प्रिय,

तुम्हारा पत्र शिवेन्दु के शरीर में क्रोध उत्पन्न कर सकता था और तुम्हें शिवेन्दु को ''आवेग के वशीभूत रहनेवाला'' कहने का एक और अवसर मिल जाता । अपनी जिज्ञासा को शान्त करने के लिए तथ्यों का सामना करो, न कि कल्पना करने लगो । तुमने ठीक ही कहा है कि जिज्ञासा मन का स्वभाव है । वस्तुतः मन मिथक है और जिज्ञासा आत्मसंरक्षी गतिविधि है । शरीर में जीवन, चैतन्य, समझदारी की ऊर्जा इसीलिए उपलब्ध है कि मन की उत्तेजना एवं गड़बड़ी में फँसे बिना तथ्यों को समता की ऊर्जा में रहकर जाँचा–परखा जा सके। तुम्हारे अनुमान के अनुसार आठ वर्ष पूर्व ''क्रिया–सहपाठी'' ने यह कहते हुए दुष्प्रचार प्रारम्भ किया कि शिवेन्दु तो दीक्षित भी नहीं है । किन्तु मेरी यात्राओं को रोकने की योजना सफल नहीं हुई, टूडी को इसके लिए बहुत–बहुत धन्यवाद । जब मैंने अपने पिताजी की हस्तलिपि में लिखा हुआ दीक्षित शिष्यों की पंजिका टूडी को दिखायी जिसमें १६६० ई. के दीक्षितों में मेरा नाम था तथा १६७८ ई. के दीक्षितों की सूची में अशोक की पत्नी का नाम था (और उसके बगल में बांग्ला भाषा में लिखा था ''अशोक उपस्थित था'' जबकि अशोक का दावा था कि वह शिष्य–परम्परा में दीक्षित है), तब टूडी ने कहा था कि आपको पंजिका ले आने का कष्ट नहीं करना चाहिए था । शेर को स्वयं को शेर सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं होती । इस व्यक्ति की गतिविधियाँ विरोधाभासी हैं। शिवेन्दु की छोटी बहन के समर्थन की जरुरत, इसकी पुस्तक में केवल चमत्कारों (आध्यात्मिक पाखंड) का वर्णन, बहन के साथ इसका समीकरण, स्वयं के बारे में लाहिड़ी महाशय के अवतार का दावा, अपनी संस्था से सत्यचरण के चित्रों का उसके द्वारा हटाया जाना आदि कई घटनाओं को विस्तार से तुम्हें बताया जा सकता है । तुम्हारा ''अन्तिम प्रश्न'' कि शिवेन्दु दीक्षा के लिए अधिकृत है या नहीं – का भी उत्तर दिया जा सकता है । किन्तु मुझे नहीं मालूम कि तुम अपने हठी मन से कभी भी शिवेन्दु के शरीर से निकलने वाले उद्गारों की सत्यता को देख पाओगे और क्रिया की समझदारी को कभी भी जान पाओगे । हाँ, बौद्धिक रूप से इन्हें समझने का दावा जरूर कर सकते हो ।

शिवेन्दु को किसी पर भी निर्भरता की आवश्यकता नहीं है, अपने पूर्वजों पर भी नहीं । निर्भरता और समर्थन दिव्य ऊर्जा और समझदारी को न कर देता है । इसलिए ''शिवेन्दु जिस डाल पर बैठा है, उसे ही काट रहा है''–का प्रश्न नहीं है । यहाँ कोई शाखा नहीं है, अपितु निराधार अवस्थित है । अपूर्णता नहीं, सम्पूर्णता है । और यह तो आग है जो स्थिर नहीं रहती । यह तो फैलती है । यदि तुम इसे नहीं समझ सकते तो तुम्हारे क्रियाभ्यास की सार्थकता क्या है ? तुम मौलिक रूपान्तरण को कभी नहीं जान सकते क्योंकि तुम हमेशा ही कुछ बनने हेतु गुप्त रूप से मानसिक काल को बीच में लाकर अपने चिन्त ''मैं'' को मजबूत बनाते हो ।

तुम यह निर्णय करने के लिए स्वतन्त्र हो कि तुम्हें शिवेन्दु को नहीं सुनना है या तुम्हें शिवेन्दु के साथ नहीं रहना है । तुम्हें शिवेन्दु के ''क्रिया–सहपाठी'' से प्रबोध की प्राप्ति हो चुकी है, अतः तुम अपना कार्यक्रम रद्द करने के लिए स्वतंत्र हो । तुम यह प्रचार करने के लिए भी स्वतन्त्र हो कि शिवेन्दु अधिकृत विक्रेता नहीं होते हुए भी क्रिया–व्यापार में लिप्त है ।

सप्रेम !

(खख)

प्रिय,

सन्देश १३४ के ऊपर गुरुजी को लिखा गया तुम्हारा पत्र मुझ तक पहुँचा दिया गया है ।

तुम्हारे पत्र का उत्तर अलग से तुम्हें लिखा जा रहा है क्योंकि यह स्वतः स्फूर्त्त रूप से इस शरीर में अवतरित हुआ है । यह इस शरीर के लिए भी एक शिक्षा है क्योंकि ज्ञान घटित हुआ है । और जब सर्वव्यापी चैतन्य का प्रत्यक्षबोध होता है तब उसे अवश्य ही साझा किया जाना चाहिए ।

तुम्हारा पत्र पढ़कर तत्काल यह दिखाई दिया कि यह भी विश्वास और अविश्वास में फँसे मन का ही उदाहरण है । जब यह लिखा गया था तब तुम्हारे शरीर में देखना हुआ ही नहीं ।

लाहिड़ी परिवार तुम्हारे लिए क्यों विशिष्ट है–जैसा कि तुमने पत्र में लिखा है? क्या यह इसीलिए कि तुमने किताबों में ऐसा पढ़ा है? तुमने लाहिड़ी महाशय को नहीं देखा है । उनके बारे में जो कहानियाँ लिखी गई हैं, उसके अतिरिक्त और क्या चीज है जो लाहिड़ी महाशय को एक विशिष्ट व्यक्ति बनाता है? लाहिड़ी महाशय विशिष्ट हो गए हैं क्योंकि ''ऑटोबायोग्राफी ऑफ ए योगी'' पुस्तक में उनके बारे में चमत्कारों का वर्णन है । अन्य लोगों ने भी वैसा ही चमत्कारिक कहानियों से भरपूर पुस्तकें लिखी हैं । तुम ठीक ही कहते हो कि मन सदैव जिज्ञासु होता है और हमेशा ही उत्तेजना तथा अवधारणाओं में लिप्त

रहना चाहता है । इसलिए पुस्तकों में वर्णित ''लाहिड़ी महाशय'' तुम्हारे मन की एक अवधारणा है । ये अवधारणाएँ, पहले की अवधारणाओं की मजबूती या फिर उनके त्याग हेतु और अधिक जिज्ञासा जगाती हैं ताकि उत्तेजना एवं विभाजन में रहा जा सके । इसी तरह विभेदकारी चित्तवृत्ति के क्षुद्र अवयवों का स्थायीकरण होता रहता है और जीवन के परमानन्द का स्पर्श कभी नहीं मिल पाता । सन्तुष्टि की खोज के इस खेल का वास्तविक खिलाड़ी छुपा हुआ एवं मिथ्या ''मैं'' अर्थात् अहंकार है । मजबूत ''मैं–पना'' द्वारा जीवन का अत्यधिक दमन हमलोगों को परमानन्द के प्रति जागरण से रोकता है ।

जीवन में कोई उत्तेजना नहीं है । यह तो केवल एक प्रवाह है । जो तुम्हारे शरीर के समक्ष उपस्थित है उसे नहीं देखा जाता जबकि मन द्वारा चुने गए चमत्कार की कहानियों को विश्वसनीय माना जाता है ।

जीवित गुरु तुम्हारे समक्ष हैं । वे चिल्ला–चिल्लाकर एवं बार–बार जब पूर्ण सजगता से सुनने के लिए कहते हैं तब क्या एक क्षण के लिए भी 'जो–है' की अन्तर्दृष्टि का स्पर्श तुम्हें मिला है ? जहाँ तक तुम्हारे जीवन का सम्बन्ध है, लाहिड़ी महाशय सचमुच महान थे या नहीं, चमत्कार की घटनाएँ घटी थीं या नहीं, वे शून्यता में थे या नहीं – इन सबका कोई अर्थ नहीं । यह सब तुम्हारे शरीर में तब तक समझदारी नहीं लायेगा जब तक कि जीवित गुरु के शरीर से निकले उद्गारों का श्रवण प्रयत्न–शैथिल्य की अवस्था में, समर्पण की अवस्था में, इच्छारहित पूर्ण शान्ति की अवस्था में न हो । जिस गुरु ने तुम्हें शिष्य रूप में स्वीकार किया है या फिर जिसे तुमने गुरु रूप में स्वीकार किया है, वे किसी के द्वारा अधिकृत हैं या नहीं – इसका कोई अर्थ नहीं । फिर भी, गुरू होने के लिए 'अधिकृत' तो स्वयं चैतन्य करता है जब वह शून्यता में स्थित शरीर के माध्यम से कार्य करने लगता है । यह किसी व्यक्तित्व द्वारा नहीं किया जा सकता चाहे किसी योगी के बहनों, भाइयों, चाचाओं और भतीजों के अनन्त पत्रों द्वारा उसे क्यों नहीं अधिकृत किया गया हो । इनका तब तक कोई अर्थ नहीं जब तक कि वे बहन, भाई, चाचा और भतीजा स्वयं शून्यता में न हों । समर्थन का कोई भी पत्र यह सुनिश्चित नहीं कर सकता कि व्यक्ति जीवन जैसा है वैसा ही देखता है। वस्तुतः जीवन जीने के सन्दर्भ में ''अधिकृत'' शब्द गलत है । कोई भी जीने के लिए अधिकार नहीं दे सकता और जीवन को इसकी आवश्यकता भी नहीं है। जीवन को केवल जीना है । जहाँ स्वतन्त्रता है, वहीं जीवन है । जो स्वतन्त्र है तथा जीवन–प्रवाह के प्रति समर्पण–भाव में है, वह व्यक्ति जो देखता है वही बोलता है । वैसा बोलने के लिए उसे किसी के द्वारा अधिकृत किए जाने की आवश्यकता नहीं है । वैसी वाणी का यदि पूर्णता में सुनना हो जाय तो दूसरे को भी इस प्रक्रिया का स्पर्श अवश्य मिलेगा । अन्यथा, किसी भी प्रकार से अधिकृत होना–शुद्ध मूर्खता है । तुमने गुरुजी से सुना है कि जब उन्हें उनके पिताजी द्वारा बुलाकर यह सूचित किया गया था कि दीक्षा–दान का कार्य अब तुम्हें ही करना है, उस समय वे बहुत उच्च पद पर कार्यरत थे । मैं पूरी कहानी नहीं जानता क्योंकि यहाँ कोई जिज्ञासा नहीं है । चूँकि तुम्हारे शरीर में जिज्ञासा है, अतः जब उनसे निकट भविष्य में स्पेन में मिलोगे तब उनसे पूरी जानकारी ले सकते हो । किन्तु जिज्ञासा के प्रश्न तब तक समाप्त नहीं होंगे जब तक कि प्रश्न पहले से ज्ञात उत्तरों के क्षेत्र से निकला हुआ होगा और जब तक प्रश्नकर्त्ता का ही विलय न हो जाय अर्थात् मौलिक रूपान्तरण घटित न हो जाय।

सभी सन्देश तुलना और विरोध के आयाम से परे हैं । वे चालाकी एवं चालबाजी से नहीं लिखे गए हैं । ये सन्देश जिस शरीर से निकले हैं वह किसी के द्वारा इन्हें स्वीकार करने या अस्वीकार करने की परवाह नहीं करता। यदि कोई इन सन्देशों से क्षुब्ध होता है तब भी यह शरीर कोई परवाह नहीं करता क्योंकि इसका कोई प्रयोजन नहीं है तथा किसी को चोट पहुँचाने का कोई इरादा भी नहीं है । ये सन्देश स्वतःस्फूर्त्त हैं तथा शरीर को स्पर्श करने वाले विस्फोटों की शाब्दिक अभिव्यक्तियाँ हैं । ये मनोरंजक नहीं हैं, मनोभंजक हैं ।

समायोजित करना या होना इन सन्देशों का उद्देश्य नहीं है । ये राजनीति में प्रेरित कथन भी नहीं हैं जो विश्व–व्यापार हेतु विभिन्न व्यापारियों के मध्य समझौता कराने में समर्थ होते हैं । ये जीवन्तता और समझदारी के विस्फोट हैं।

यदि शरीर में एक क्षण के लिए भी समर्पण घटित होता है तब ये सन्देश शरीर को तत्क्षण सन्देशों के आयाम में ही विस्फोटित कर देंगे । अज्ञानता से समझदारी की कोई संक्रमण अवस्था नहीं है । यह तत्क्षण है । यह स्विच के ऑफ से ऑन हो जाने जैसा है ।

गुरू–कृपा के माध्यम से यह समझदारी की ऊर्जा तुम्हें स्पर्श करे । गुरु–शरीर से सभी के लिए प्रेम ऊर्जा उसी तरह प्रवाहित होती रहती है जिस तरह सूर्य–प्रकाश सभी के लिए । मन के तमस से बाहर निकलकर अखण्ड प्रेम के प्रकाश में लय हो जाओ ।

सप्रेम !

।। जय विस्फोट ।।